फेनोमेनॉलॉजी ऑफ स्पिरिट

भूमिका (संज्ञान पर)

जार्ज विल्हेम फ़्रेडरिक हेगेल (अदिति मुखर्जी और आर. श्रीवत्सन द्वारा अनुवादित)

1. किसी भी लेख/कृति को शुरू करने से पहले, यह दस्तूर है कि लेखक भूमिका में अपना उद्देश्य और इसे लिखने का कारण स्पष्ट करें। यह भी बताएं कि इसी मुद्दे पर भूतपूर्व और समकालीन लेखों के दृष्टिकोण के साथ इस लेख का क्या संबंध है। मगर, किसी दार्शनिक लेख में ऐसा स्पष्टीकरण अनावश्यक ही नहीं, पर, विषय के प्रकृति के अनुसार यह अनुचित और भ्रामक भी हो सकता है। क्योंकि दार्शनिक रचना की भूमिका में जिस तरह के वक्तव्य नियमानुसार प्रस्तुत किए जाते हैं (जैसे, किसी दृष्टिकोण की दिशा, विषयवस्तु और निष्कर्ष का ऐतिहासिक विवरण देना; सच्चाई के बारे में बहुत सारे असंबद्ध दावे करना और आश्वासन देना)[1] वे एक दार्शनिक सत्य की व्याख्या करने के ग्राह्य तरीके नहीं हो सकते हैं। इसके अलावा, फ़लसफ़े (दर्शन) की व्याप्ति दर असल सार्वभौमिक है, जो विशेषता को अपने अंदर शामिल करता है। और इस से यह धारणा बनती है (अन्य विज्ञानों से ज्यादा, फ़लसफ़े में) कि मूल विषय के अहम पहलू केवल उद्देश्य और निष्कर्ष के जरिए व्यक्त किए जाते है, और विवरण की भूमिका नगण्य है। इसके विपरीत, हमें यकीन कराने की जरूरत नहीं होती है कि, मसलन, शरीर-

[1] कई जगह अनुवादकों ने स्पष्टता के लिए निम्न लिखित पद्धतियों का इस्तेमाल किया है:

1. अल्पविराम/कॉमा के स्थान पर कोष्ठक/ब्रैकेट का इस्तेमाल।
2. वर्ग कोष्ठक/स्कवेर ब्रैकेट में नए शब्दों का उपयोग।
3. लंबे वाक्यों को तोड़कर छोटे-छोटे वाक्य बनाना।

रचना-विज्ञान की आम समझ (जैसे, निर्जीव अवस्था में शरीर के विभिन्न अंगों का ज्ञान) से हम मूल तत्व को नहीं छू पाते है। इसके साथ साथ हमें [जीवित अवस्था में] इन अंगों की भूमिका को भी समझने की जरूरत है। और, ऐसे तथ्य-समूहन (जिसे शास्त्र नहीं कहा जा सकता है) जिसमें उद्देश्य और ऐसी साधारण बातों का मामूली विवरण दिया जाता है, वह सतही और गैर-वैचारिक तरीके से की गई विषय-वस्तु (ये तंत्रिकाएं, मांसपेशियाँ इत्यादि) की चर्चा से अलग नहीं है। इसके विपरीत दर्शनशास्त्र में एक असामंजस्य पैदा होता है - दर्शनशास्त्र ही दिखाता है कि दर्शनशास्त्र [की भूमिका] में अपनाया गया यह तरीका सत्य को पकड़ नहीं पाता है।

2. इसी तरह, किसी दार्शनिक कृति का (उसी विषय पर लिखे गए) अन्य प्रयासों के साथ संपर्क स्थापन एक बाहरी मुद्दा उत्पन्न करता है और सत्य की समझ के लिए जरूरी तत्व को धुंधला देता है। आम धारणा में सही और गलत का विरोध दृढ़ बद्ध होता है, और ऐसी धारणा मौजूदा दार्शनिक सिद्धांतों के प्रति सहमति या असहमति की अपेक्षा करती है; और इस लिए इन सिद्धांतों पर किसी भी टिप्पणी में या तो सहमति देखती है, या असहमति आम धारणा में यह समझ नहीं होती है कि दर्शन के विविध सिद्धांत सत्य के क्रमिक विकास के अंग हैं; बल्कि विविधता में केवल असहमति ही दिखती है। जब फूल खिल उठता है, कली लुप्त हो जाती है, और ऐसा कहा जा सकता है कि फूल कली को झुठला देता है। इसी तरह जब फल लगता है, ऐसा ऐलान किया जाता है कि फूल पौधे का झूठा प्रकटीकरण है और फल को, फूल की

जगह, पौधे की सच्चाई माना जाता है। इनके स्वरूप केवल अलग ही नहीं होते हैं बल्कि परस्पर-विरोधी होने के नाते एक दूसरे की जगह ले लेते हैं। ऐसा होने के बावजूद इनका प्रवाही स्वभाव इनको एक [उद्देश्यपूर्ण] जैविक इकाई का अंग बना देता है, जिसमें ये परस्पर-विरोधी नहीं हैं, बल्कि प्रत्येक अंग हर दूसरे अंग के समान आवश्यक है; और यह साझा आवश्यकता ही इनके जैविक संपूर्णता का गठन करता है। लेकिन किसी भी दार्शनिक सिद्धांत के खिलाफ विरोधाभास में अकसर यह आत्म ज्ञान [अपना भी इस जैविक संपूर्णता का अंग होने का] नहीं होता है। न ही विश्लेषणात्मक चेतना साधारणतः यह जानती है कि इस विरोधाभास को कैसे इसके एकपक्षीयता से मुक्त किया जाए; और न ही प्रतीयमान विरोध और वैपरित्य में पारस्परिक आवश्यक अंगों को पहचान पाती है।

3. इस तरह के मांग और उनकी पूर्ति आसानी से यह गलतफहमी पैदा कर सकती हैं कि यह मूल विषय से संबन्धित हैं। आखिर, किसी दार्शनिक कृति के मूल तत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति उसके उद्देश्य और निष्कर्ष के अलावा और कहाँ पाई जाए! और इस विषय पर लिखे गए समसामयिक कृतियों से तुलना किए बिना अपने उद्देश्य और निष्कर्ष की भिन्नता को स्पष्ट रूप से कैसे ही बताया जाए? लेकिन जब इस प्रक्रिया को संज्ञान की केवल शुरुआत नहीं, बल्कि इसी को संज्ञान मान लिया जाए, तब हमें इस प्रक्रिया को असली मुद्दे को टालने का एक तरीका समझ लेना चाहिए। और यह भी समझना चाहिए कि इस तरीके का मूल विषय पर गहराई से जूझने का भ्रम असल में दोनों [मूल विषय

और उस से जूझना] से बच निकलता है। वैसे, असली विषय की परिपूर्णता उसके लक्ष्य से नहीं, बल्कि उसके विस्तृत विवरण में होता है; इसी तरह उसका असली स्वरूप केवल निष्कर्ष में नहीं, बल्कि उस निष्कर्ष के बनने की प्रक्रिया में होता है। लक्ष्य अपने आप में एक निर्जीव अमूर्त धारणा है, जब कि [उद्देश्यपूर्ण] वास्तविकता के बिना पथ में भटकाव ही है; और नग्न निष्कर्ष एक लाश ही है जो उद्देश्यपूर्ण पथ से भटक गया हो। इसी तरह, भिन्नता विषय की सीमा पर या उसके लुप्त होने पर ही होता है; या भिन्नता वह है जो विषय नहीं है। इस लिए, लक्ष्य या निष्कर्ष पर मेहनत करना, और एक [कृति और] दूसरे की नाप तोल करना और उनके बीच भिन्नता दिखाना, शायद जितना मुश्किल लगता है, उतना नहीं है। क्योंकि विषय के साथ जूझने के बजाय ऐसी प्रक्रिया हमेशा उसके बाहर ही चली जाती है; विषय में ठहरकर उसमें अपने आप को खोने के बजाय, इस तरह का ज्ञान और किसी चीज के लिए लालायित होता है; विषय के प्रति आत्म समर्पित होकर उसमें समा जाने के बजाय, ऐसा ज्ञान अपने आप में लीन रहता है। किसी भी ठोस कृति के प्रति अपनी राय देना बहुत आसान होता है; उसे समझना इससे मुश्किल है; इन दोनों को मिला कर एक सुनियोजित विवरण पर पहुंचना सबसे ज्यादा मुश्किल होता है।

4. संस्कृति और उसका अचिंतित वस्तुगत जीवन से उभरना हमेशा निम्नलिखित तरीके से होता है। हम सार्वभौमिक सिद्धांतों और विभिन्न दृष्टिकोण से परिचित होते हैं। सब से पहले हम असली मुद्दे के बारे में एक साधारण सोच की ओर बढ़ते हैं। साथ ही साथ हम तर्क के द्वारा

उस विषय के पक्ष या विपक्ष में एक निर्णय लेना सीखते हैं। हम विषय के समृद्ध और ठोस विपुलता को निश्चित रूप से समझना सीखते हैं, और उसका सही विवरण और उसके बारे में सुचिन्तित निर्णय दे सकते हैं। लेकिन सबसे पहले इस संस्कृति के विकास की शुरुआत ज़िंदगी की व्यापक गंभीरता के लिए जगह बनाती है जो हमें मूल विषय के अनुभव तक ले जाती है। और अगर इस सब के अतिरिक्त सोच की गंभीरता विषय के गहराई तक उतरती है, तब भी इस तरह की [भाववाचक] सूचना और निरूपण, चर्चा में अपने सही जगह पर कायम रहेंगे।

5. सत्य का सही रूप केवल सत्य की वैज्ञानिक [तार्किक] पद्धति में ही होता है। फ़लसफ़ा को वैज्ञानिक संरचना के करीब लाने का प्रयास - यानी कि 'ज्ञान से प्रेम' [फ़िलो सोफ़ीया] का नाम छोड़ कर असली ज्ञान बनने के लक्ष्य की ओर बढ़ना - यही मैं करने चला हूँ। ज्ञान की प्रकृति में विज्ञान बनना उसकी अंदरूनी ज़रूरत है, और इस बात की एकमात्र संतोषजनक व्याख्या फलसफे का प्रस्तुतीकरण ही है। लेकिन बाहरी जरूरत, जहां तक सार्विक रूप से सोचा जाए (व्यक्ति और व्यक्तिगत इरादों जैसे विशेषताओं को छोड़कर), अंदरूनी जरूरत से अभिन्न है, अर्थात, यह उसका प्रकटीकरण है, जिसमें समय उसके पहलुओं की उपस्थिति को प्रस्तुत करता है। यह बताना कि फलसफ़े को विज्ञान के दर्ज़े तक पहुंचाने का सही वक्त आ गया है - यही इस लक्ष्य के प्रति विभिन्न प्रयास का एक मात्र सही औचित्य है, क्योंकि यह इस लक्ष्य की ज़रूरत [अनिवार्यता] को दर्शाएगा, और साथ ही साथ इस लक्ष्य को कार्यान्वित करेगा।

6. जब सत्य का सही आकार ऐसे वैज्ञानिक शैली में उपस्थापित किया जाता है - यानी कि यह दावा करना कि सत्य के [सजीव] अस्तित्व का मूल तत्व अवधारणा में ही है - मुझे अच्छी तरह मालूम है कि यह [दावा] ऐसे विचार और उनके परिणाम जो हमारे ज़माने के सोच में धृष्टतापूर्वक प्रचलित हैं, उनके खिलाफ है। इसी लिए इस विरोधाभास की व्याख्या किसी भी सूरत में (कतई?) अनावश्यक नहीं है, हालांकि यहाँ यह [व्याख्या] एक दावे से अधिक नहीं हो सकता है, ठीक इसी तरह जैसे विपरीत पक्ष भी दावा ही है। विपरीत पक्ष के दावे के अनुसार सत्य उसी में है, या वही है, जो अलग अलग नाम से जाना जाता है, जैसे - अंतर्ज्ञान, परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान, धर्म, दैविक प्रेम के केंद्र में होना नहीं, बल्कि इस केन्द्र का होना। अगर यह सच है तो फ़लसफ़े के प्रस्तुतीकरण के लिए अवधारणा का आकार नहीं बल्कि उसके विपरीत की ज़रूरत है: परम तत्व का आत्मसात करना नहीं, बल्कि उसका अनुभव और अंतर्ज्ञान होना चाहिए; परम तत्व की अवधारणा का यथोचित अधिकार और उसकी अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उसका अनुभव और अंतर्ज्ञान होना चाहिए।

7. अगर हम ऐसे मांग के आविर्भाव को व्यापक प्रसंग में देखें, और इस समय आत्म-चेतन चित्त किस स्तर पर है, उस पर गौर करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्त, जो पहले विचार क्षेत्र में वस्तुगत जीवन बिताता था, अब उस से उभर के आया है, -- विश्वास के सन्निहितता के परे; चित्त के सत्य के साथ एकात्म होने के परे; और सत्य का सर्वव्यापी विद्यमान (भीतर और बाहर) होने का आश्वासन और सुनिश्चितता से

उत्पन्न संतुष्टि के परे। चित्त न ही इन सब को पार कर के विपरीत दिशा में वापस अपने भीतर निरर्थक [निष्फल] चिंतन में खो गया है, बल्कि उससे भी आगे निकल गया है। चित्त ने न ही अपने अर्थपूर्ण जीवन को खोया है, बल्कि उसे इस खोने का और अपने सीमाबद्धता का ज्ञान है। खोखलेपन से हटकर, और अपनी दुरवस्था को मानते और कोसते हुए, यह अब फ़लसफ़े से आत्मज्ञान नहीं मांगता है, बल्कि यह मांग करता है कि फलसफा फिर से पहले जैसी ठोस और स्थिर अवस्था को स्थापित करने में मदद करे। फ़लसफ़े को इस मांग को पूरी करने के लिए, ऐसा नहीं कि वह जड़ के बंद ताले को खोल कर उसे आत्म-चेतना के स्तर पर ले आए, और न ही भटकती चेतना को व्यवस्थित विचार और अवधारणा की सहजता की तरफ ले आए, बल्कि वह विश्लेषणात्मक अवधारणा को दबा कर विचार की विशिष्टता को धुंधला दे, और अंतर्दृष्टि नहीं, बल्कि आध्यात्मिक उपदेश से सत्य के एहसास को स्थापित करे। और इसे [उपदेश को] निगलने के लिए सौन्दर्य, पावन, अनंत, धर्म, और प्रेम जैसे चारे का प्रलोभन जरूरी होता है; अवधारणा नहीं बल्कि हर्षोन्माद, विषय की अनिवार्यता का अवैयक्तिक विश्लेषण नहीं, बल्कि जोश का उफान; ऐसा माना जाता है कि यही हैं जो सत्व के महत्व को बनाए रखते हैं और बढ़ावा भी देते हैं।

8. इस मांग के साथ-साथ लोगों को ऐंद्रिक, साधारण और विशिष्ट चीजों में लीन रहने से हटाकर उनकी नज़र तारों की तरफ ले जाने की जोरदार, सरगर्म और (सतही तौर से) उग्र कोशिश जारी है; जैसे कि वे आध्यात्मिकता को भूल चुके हैं और कीड़े-मकोड़ों की तरह गंदे नाली में

संतुष्ट रहने को तैयार हैं। पहले उनके पास विचारों और मूर्तियों से समृद्ध एक स्वर्ग था। अस्तित्व का अर्थ उस रोशनी के धागे में निहित था, जो उसे स्वर्ग के साथ जोड़ रखा था; वर्तमान में ठहरे रहने के बजाय हमारी नज़र वर्तमान के परे, इस धागे से तिरते हुए, दैविक सत्व यानी कि परलोक की ओर जाता था। चित्त की दृष्टि को जबरन लौकिक विषयों की तरफ लाना और ठहराना था; अलौकिक विषयों के बारे में जो स्पष्टता थी, उस स्पष्टता को लौकिक एहसास, जो धुंध और विभ्रांति से घिरा हुआ था, उसमें लाना; और वर्तमान पर केंद्रित ध्यान को (जो अनुभव कहलाया जाता था) रोचक और वैध बनाना - यह सब करने के लिए बहुत समय और कड़ी मेहनत लगी। -- अब लगता है कि हमें इसके विपरीत की ज़रूरत है: जैसे कि चेतना इस दुनिया में इतना ज़बरदस्त जमा हुआ है कि उसे उखाड़ने के लिए उतनी ही शक्ति की आवश्यकता है। जाहिर है कि चित्त इतना कंगाल हो गया है, (जैसे रेगिस्तान में भटकता हुआ आदमी एक घूँट पानी के लिए तरसता है), कि वह पुनर्जीवित होने के लिए, आध्यात्मिकता के आभास मात्र के लिए तरसता है। चित्त की दुर्गति का हद, जिस [रत्ती भर प्राप्ति] से वह तृप्त होता है, उसी से नापा जा सकता है।

9. लेकिन शास्त्र के लिए यह संगत नहीं है कि इस तुच्छ मांग को कंजूसी से पूरी की जाए, या उसके स्वीकरण में [चित्त की] ऐसी सविनय संतुष्टि हो। जो सिर्फ उपदेश की खोज में है, और जो भी इस अनिश्चित दिव्यता में अनिश्चित सुख पाने के लिए उसके सुनिश्चित अस्तित्व और सोच की लौकिक विविधता को धुँधलाना चाहता है, वह जहाँ चाहे इसे ढूंढ

सकता है। उसे अपने जोश को जाहिर करने के लिए आसानी से कोई उपाय मिलेगा, और वह उससे गर्वित होगा। लेकिन फलसफा को उपदेश देने की चाहत से सतर्क रहना होगा।

10. शास्त्र को अस्वीकार करने वाली ऐसी आत्म-संतुष्टि को और भी कम यह दावा करना चाहिए कि ऐसा अस्पष्ट जोश शास्त्र से कहीं बेहतर है। ऐसा पैगम्बरी कथन मानता है कि यह एक दम केंद्र और गहराइयों में बसता है–यह निर्धारितता को अवज्ञा से देखता है, अवधारणा और तर्क के नियंत्रण से जानबूझकर दूर रहता है; जो विचार केवल [लौकिक] परिमितता में बसता है, उससे [यह पैगम्बरी कथन] दूर रहता है। लेकिन जैसे एक खोखला फैलाव होता है, वैसे ही एक खोखली गहराई होती है; और ठीक जैसे जड़ वस्तु का विस्तार, बिना सूत्र से बंधे हुए, सीमित बहुलता में फैलता है, इसी तरह यह [पैगम्बरी कथन] एक विषय-वस्तु रहित धारणा है, जो बिना फैलाव के निरा जोश है, और यह सतहीपन ही है। चित्त की ताकत उतनी ही प्रगाढ़ होती है जितनी उसकी अभिव्यक्ति है, उसकी गहराई उतनी ही गहरी होती है जितनी वह अपने आप को विस्तार करके अपने प्रकटन में खो जाने का साहस करता है। इसके अलावा, जब यह अवधारणा रहित जड़-वस्तुगत ज्ञान अपने आप को परम सत्य में तल्लीन कर देने का दावा करता है, और सच्चाई और पवित्रता से चिंतन करने का भी दावा करता है, तब वह अपने आप को भ्रमित करता है: ईश्वर में आत्म-समर्पण करने के बजाय, आकलन और निर्धारण को नकारकर यह सिर्फ कभी यादृच्छ अंतर्वस्तु और कभी अपनी मनमानी को खुली छूट देता रहता है। जब वे सत्व के

अनियंत्रित उफान में आत्म समर्पण करते हैं, वे मान लेते हैं कि आत्म-चेतना पर चादर ओढ़कर, और सूझ बूझ को त्याग कर, वे ईश्वर के प्रिय पात्र हो जाते हैं, जो उन्हें नींद में ज्ञान देता है; और इस लिए वस्तुतः वे नींद में पाए हुए बीज से जो उत्पन्न करते हैं, वे सपने ही होते हैं।

11. वैसे, यह देखना मुश्किल नहीं है कि हमारा यह ज़माना एक नए दौर के जन्म और परिवर्तन का वक्त है। चित्त अपने पहले की ज़िंदगी और विचारों की दुनिया से बिछड़ गया है, और उसे अतीत में डुबो रहा है; यह अपने ही रूपांतरण में लगा हुआ है। वास्तव में, चित्त कभी स्थिर नहीं रहता, बल्कि हमेशा आगे बढ़ने में लगा रहता है। मगर जैसे भ्रूण अपने लंबे अरसे के शांतिपूर्ण पुष्टि के बाद पहली सांस लेकर मात्रात्मक वृद्धि की क्रमिकता को तोड़ता है - एक गुणात्मक छलांग - और अब बच्चा पैदा होता है; वैसे ही चित्त जो अपने को उन्नत करते हुए धीरे धीरे और चुपचाप परिपक्व होकर एक नया रूप लेता है, थोड़ा-थोड़ा कर के पुरानी दुनिया की संरचना को पिघला देता है, जिसका अस्थायित्व सिर्फ बिखरे हुए लक्षणों में दिखाई देता है: स्थापित व्यवस्था में फैले हुए तुच्छता और नीरसता, अज्ञात भविष्य के बारे में धुंधली उत्कंठा, आने वाले बदलाव के सूचक हैं। इस उत्तरोत्तर ढहने की प्रक्रिया को, जो पूर्ण इकाई की रूपाकृति को बदलता नहीं है, उसे उगता सूरज व्यवहित करता है और बिजली की तरह अचानक नई दुनिया की रूपरेखा को विकसित करता है।

12. एक नवजात शिशु की तरह ही इस नई दुनिया का पूर्ण वास्तविकता नहीं होता है; और इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। पहला आविर्भाव केवल इसकी प्रारंभिक अवस्था या इसकी अवधारणा है। ठीक जैसे एक इमारत उसकी नींव डलने पर पूरी नहीं हो जाती है, वैसे ही संपूर्णता की [अब तक] उपलब्ध अवधारणा संपूर्णता नहीं होती है। जब हम एक बरगद को उसके तने की शक्ति और उसकी शाखा-प्रशाखाओं का फैलाव, और उसके पत्तों की ढेर में देखना चाहते हैं, तब उसकी बीज दिखाने पर हमें संतुष्टि नहीं होती। इसी तरह विज्ञान, जो चित्त की दुनिया का ताज है, शुरुआत में सम्पूर्ण नहीं होता। इस नए चित्त की शुरुआत, संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का व्यापक रूपांतरण; एक जटिल और पेचीदा सफर का फल; और उतनी ही बड़ी और कड़ी मेहनत का परिणाम है। यह शुरुआत वह संपूर्णता है जो क्रमानुसार वृद्धि और प्रसार के बाद अपने आप में लौट कर आती है, और यह संपूर्णता की सादी अवधारणा बन जाती है। इस सादी संपूर्णता की वास्तविकता यह है: ये विन्यास जो संपूर्णता के भाग बन गये हैं, फिर से नए तरीके से विकसित होकर, नए परिप्रेक्ष्य में, एक उभरते हुए समझ के साथ नए विन्यास बनते हैं।

13. एक तरफ इस नई दुनिया का पहला रूप केवल सरलता से ओड़ा हुआ संपूर्णता है, या संपूर्णता का अविशिष्ट बुनियाद है। लेकिन चेतना में पूर्व अस्तित्व का प्राचुर्य अभी भी याददाश्त में मौजूद है। इस नए बनते हुए रूप में, चेतना अंतर्वस्तु की व्यापकता और विशिष्टता को पकड़ने में चूक जाती है; इसके अलावा यह [चेतना] संरचना की

अभिव्यक्ति, जिसके ज़रिए ठोस संबंधों में विशिष्टता पक्की तरह से निर्धारित और क्रमित होती है, उसको पकड़ नहीं पाती है। इस संबंध स्थापन के बिना, विज्ञान सार्विक समझ के बाहर रह जाता है, और यह धारणा देता है कि यह कुछ गिने चुने लोगों की गुप्त संपत्ति है;—गुप्त संपत्ति क्योंकि अब तक इसकी मौजूदगी सिर्फ अवधारणा में ही है, या सिर्फ उसका बीजकोष मौजूद है;—गिने चुने लोगों की, क्योंकि इसका अविस्तारित रूप इसके अस्तित्व को एक अनूठी चीज बना देता है। केवल वही जिसकी पूरी तरह से व्याख्या की गई हो, वह साथ ही साथ सर्व-सुलभ और समझने लायक होती है, और जिसे सब सीखकर अपनी संपत्ति बना ले सकते हैं। विज्ञान का बोधगम्य रूप ही विज्ञान का रास्ता है, जो सब के लिए खुला है, और सब के लिए समान रूप से सुलभ है; विज्ञान की तरफ बढ़ती हुई चेतना का यह सही मांग है कि तार्किक ज्ञान की उपलब्धि समझ के साथ हो, क्योंकि समझ चिंतन ही है, व्यापक अर्थ में निजी व्यक्तित्व है। और जो बोधगम्य है, वह विज्ञान और अवैज्ञानिक चेतना दोनों के लिए पहले से ही विदित है, जिससे अवैज्ञानिक चेतना तुरंत विज्ञान में प्रवेश कर सकती है।

14. शुरु में जब विज्ञान को न पूरी जानकारी हो, और न ही सम्पूर्ण संरचना हासिल हो, तब इसे इन वजहों से आलोचना का सामना करना पड़ता है। लेकिन अगर इस आलोचना से विज्ञान के सत्व पर संशय पैदा हो, तो वह अनुचित होगा; और विज्ञान के क्रम-विकास के लिए की गई मांग को अस्वीकार करना उतना ही अनुचित होगा। ऐसा लगता है कि यह द्वन्द्व वह सबसे अहम गुत्थी है जिस से वैज्ञानिक विचारधारा

फिलहाल जूझ रही है, और जिसको अब तक ठीक से समझ नहीं पायी है। एक पक्ष अपने तथ्य की बहुलता और उसकी बोधगम्यता पर जोर देता है, और दूसरा पक्ष कम से कम इस बोधगम्यता की निंदा करते हुए अपने सन्निहित तर्क और दिव्यता पर जोर देता है। हालांकि, निरे सत्य के जोर से या दूसरे पक्ष के धौंस से पहला पक्ष चुप करा दिया जाता है, और हालांकि अहम तत्व के मूल सिद्धांतों से वह अभिभूत हो जाता है, फिर भी किसी भी सूरत में वह अपने मांगों के संदर्भ में संतुष्ट नहीं होता है: मांग जायज़ हैं, लेकिन पूरे नहीं होते। इसकी चुप्पी सिर्फ आधा ही [दूसरे पक्ष के] जीत की वजह से होता है, लेकिन [दूसरे] आधे की वजह है, ऊब और बेपरवाही जो निरंतर अमल नहीं किए गए वादों और उम्मीदों से पैदा होते हैं।

15. जहां तक विषयवस्तु का सवाल है, कभी-कभी दूसरे पक्ष के लोग [शेलिंग के समर्थक] यकीनन अपने लिए विषयवस्तु की व्यापकता को हासिल करना आसान कर लेते हैं। वे अपने दायरे में ढेर सारी सामग्री ले आते हैं, अर्थात वह सामग्री जो परिचित और सुव्यवस्थित हैं; और मुख्यतः विचित्रता और अनोखापन पर ज़ोर देते हैं। और इस लिए ऐसा लगता है कि उनके कब्ज़े में वह सब कुछ है जो प्रस्तुत जानकारी ने अपने तरीके से पहले से ही प्रबंधित किया है; इसके अलावा यह भी लगता है कि जो कुछ अभी भी अव्यवस्थित है, वह भी उनके काबू में है। और इस लिए वे सब कुछ परम प्रत्यय के अंतर्गत लाते हैं, जो [परम प्रत्यय] इस तरह से सब कुछ में दिखने लगता है, और एक परिपक्व विस्तृत विज्ञान जैसे लगने लगता है। लेकिन बारीकी से जांच करने पर

दिखता है कि यह विस्तार एक ही सिद्धांत के अलग-अलग रूप के स्वतः अंगीकरण से नहीं हुआ है, बल्कि एक ही सिद्धांत का बेतरतीब दोहराना है जो अलग-अलग वस्तु पर बाहरी तरीके से छापा जाता है, और विविधता का एक उबाऊ रूप ले लेता है। प्रत्यय अपने आप में यकीनन सही होता है, लेकिन अगर इसका संवर्धन केवल एक ही फ़ार्मुले के दोहराने तक सीमित रहता है, तो वस्तुतः वह हमेशा प्रारम्भिक स्तर पर ही रह जाता है। जब एक सचेतन व्यक्ति इस एक ही निश्चल अभिरूप को हर एक विषय पर लागू करता है, मसलन जब यह विषय इस प्रवाहहीन तत्व में बाहर से डुबोया जाता है, तब इस प्रक्रिया से विषय-वस्तु की सतही धारणा से बढ़कर असली लक्ष्य को हासिल नहीं किया जाता है। मतलब, यह इसके [प्रत्यय के] भीतर से उमड़ते हुए बहुल आकार और उनके आत्म-निर्धारित विविधीकरण नहीं है। बल्कि यह एक एकरंगा नियम-निष्ठता है, जो तथ्य के विविधता तक सिर्फ इस लिए पहुंच पाता है, कि तथ्य पहले से ही बना-बनाया और परिचित है।

16. फिर भी यह नियम-निष्ठता इस नीरस और सैद्धांतिक सार्वभौमिकता को परम तत्व के रूप में पेश करता है; यह हमें समझाता है कि इसके बारे में असंतुष्टि, सार्वभौमिक दृष्टिकोण को आत्मसात करके हमारी वहाँ टिके रहने की नाकामयाबी को दिखाता है। अतीत में, एक दृष्टिकोण को गलत साबित करने के लिए, किसी बात को अलग तरीके से कल्पना करके पेश करने की खोखली संभावना ही काफी होती थी, और इस संभावना (यानी कि [निस्सार] सार्वभौमिक सोच) में ही, वास्तविक संज्ञान का पूरा महत्व निहित था। यहाँ भी हम देखते हैं कि

सार्वभौमिक सोच का ऐसे अवास्तविक रूप को ही महत्व दिया जाता है, और विशिष्टता और निश्चितता के विघटन (यानी कि इनको किसी अंदरूनी विकास या तर्कसंगतता के बिना ही शून्यता के अतल खाई में निर्वासित करना) को ही चिंतनशील पद्धति का नाम दिया जाता है। किसी चीज़ के अस्तित्व को परम तत्व के रूप में विचारने का अर्थ केवल उसके बारे में यह कहना कि बेशक हमने अभी इसके बारे में बात की थी जैसे कि यह कोई विशेष वस्तु है, लेकिन परम तत्व में (जहां क = क का नियम लागू है) ऐसा कुछ नहीं होता है; परम तत्व में सब कुछ एक ही होता है। इस एकमात्र अंतर्दृष्टि–यानी कि परम तत्व में सब कुछ एक ही होता है–को विभेदकारी और सर्वग्राही संज्ञान, या पूर्णता को खोजती और उसकी मांग करती हुई संज्ञान के मुकाबले खड़ा करना (या परम तत्व को रात के रूप में समझना–जिसमें, जैसे कि कहा जाता है, सब गायें काली दिखती हैं)–यह एक रिक्त संज्ञान की नादानी है।--यह नियम-निष्ठता, जिसकी हाल के फलसफे ने निंदा की थी और धिक्कारा था, वह इसी फलसफे के अंतर्गत पुनर्जीवित हुआ है। इस नियम-निष्ठता की कमियों की जानकारी और एहसास होने के बावजूद, यह विज्ञान से नहीं मिटेगा जब तक सम्पूर्ण वास्तविकता के स्वरूप के बारे में पुरी तरह से स्पष्ट समझ नहीं होगी।-किसी विचार को अमल में लाने से पहले, अगर उसके बारे में एक साधारण अंदाज़ा हो, तो उसे कार्यान्वित करना आसान होता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए, यहाँ इसका एक मोटा-मोटा इंगित देना फायदेमंद होगा; साथ ही साथ इस मौके पर [मेरा]

यह इरादा है कि कुछ सोचने के तरीकों को हटाया जाए, जिनकी आदतन स्वीकृति दार्शनिक संज्ञान के लिए अंतराय है।

17. मेरा विचार (जो संरचना की प्रस्तुतिकरण से ही सही ठहराया जाएगा) है कि परम सत्य की केवल जड़ सत्व[2] जैसे नहीं, पर साथ ही साथ [आत्म-सचेतन] व्यक्ति के रूप में संकल्पना करके उसे व्यक्त करने पर सब कुछ निर्भर करता है। यहाँ, यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि [सक्रिय] सार्वभौमिक[3], अर्थात ज्ञान की सन्निहितता[4] और साथ ही साथ सन्निहित अस्तित्व, या ज्ञान के लिए सन्निहितता, भी सत्वता[5] में शामिल हैं। जब ईश्वर को एक-तत्व के रूप में संकल्पना या परिभाषित की गई[6], तो उस समय की सोच को झटका लगा। कुछ हद तक इस का कारण यह सहज-ज्ञान था कि आत्म-सचेतनता ऐसी संकल्पना में लीन हो जाती है, और [उसका कोई अंश] संरक्षित नहीं रहती। इसके विपरीत, जो संकल्पना[7] सोच को [निरा] सोच, यानी कि [निरा, तात्विक] सार्वभौमिकता मान कर उस पर अड़ा रहता है–वह भी वही सतही या अविभेदित सत्वता है। और तीसरी बात[8] यह है कि, जब सोच जड़-तत्व के अस्तित्व को अपने में समा लेती है, और सन्निहितता या अंतर्दृष्टि को निरा सोच मानती है, तो सवाल यह उठता है कि क्या

---

[2] जड़ सत्व = (inert substance)

[3] [सक्रिय] सार्वभौमिक = [active] universal, or [concrete] universal, as opposed to an abstract or passive universal.

[4] सन्निहितता = immediacy.

[5] सत्वता = substantiality.

[6] स्पीनोज़ा के अनुसार

[7] लीबनिज़ के अनुसार

[8] शेलिंग के अनुसार

यह बौद्धिक अंतर्दृष्टि महज़ निर्जीव सरलता[9] में फिर से फिसल कर नहीं गिर जाती है, और वास्तविकता को ही अवास्तविक तरीके से नहीं पेश करती है?

18. इसके अलावा, सजीव तत्व वह अस्तित्व है, जो असल में [आत्म-सचेतन] व्यक्ति है, यानी कि वह अस्तित्व सिर्फ उस हद तक वास्तविक है, जहां वह [सजीव तत्व से अलग होकर] आत्म-उत्थान की प्रक्रिया है; और उस 'आत्म' और इस अलग होने की प्रक्रिया का [पुन:] सम्मेलन[10] है। व्यक्ति के रूप में, [सजीव] तत्व महज़ नकारात्मकता है, और इसी वजह से निरा तत्व का द्विभाजन है; और वह दोहराने की विपरीत प्रणाली[11] है जो फिर से इस अनियत विविधता[12] और उसके विपक्ष को नकारता है। सिर्फ आत्म-पुनरुद्धारित एकत्व[13] (ना कि प्रारम्भिक एकत्व[14], और ना ही तात्कालिक [चेतना का] एकत्व[15]) या अन्यता[16] में स्वयं की धारणा ही सत्य है। सत्य वह है जो अपने आप में परिणत होता[17] है; वह वृत्त जो मुकम्मल होना ही अपना लक्ष्य मान कर चलता है; और जिसका अंजाम फिर से उसकी शुरुआत है; और वह लक्ष्य के मुकम्मल होने के ज़रिए ही वास्तविक होता है।

---

[9] निर्जीव सरलता = "inert simplicity", which in this context is abstraction.

[10] सम्मेलन = mediation

[11] दोहराने की विपरीत प्रणाली = opposing duplication

[12] अनियत विविधता = indifferent diversity

[13] आत्म-पुनरुद्धारित एकत्व = self-restoring equality

[14] प्रारम्भिक एकत्व = original unity

[15] तात्कालिक [चेतना का] एकत्व = immediate unity [of consciousness]

[16] अन्यता = otherness

[17] परिणत होना = becoming (maturing, ripening, consummation).

19. इस तरह से [ऊपर कही गई बातों को ध्यान में रखते हुए] ईश्वर का अस्तित्व और दैवी संज्ञान को प्रेम का अपने साथ विनोदन ज़रूर कहा जा सकता है; लेकिन अगर इस सोच में संजीदगी, दर्द, धैर्य, और नकारने की मेहनत मौजूद न हो तो यह महज़ उपदेश ही नहीं, बल्कि नीरसता के स्तर पर उतर आती है। अपने आप में यह जीवन संतुलित और स्वयं-सम्पूर्ण है, जिसका ना अन्यता और विच्छेद और ना ही उस विच्छेद से उभरने का कोई वास्ता है। पर यह *स्वयं-में*[18] होना अमूर्त सार्वभौमिकता है, जिसमें इस जीवन की प्रकृति, *स्वयं-के-लिए*[19] होना, और इस तरह व्यापक अर्थ में [जैविक] संरचना का [ठोस] आत्म-गठन, उपेक्षित हो जाता है। अगर संरचना और सार[20] को एक ही माना जाए, तो फलस्वरूप यह गलतफ़हमी हो सकती है कि संज्ञान के लिए *स्वयं-में* होना या सार काफी है, और संरचना को नज़रंदाज़ किया जा सकता है–यानी कि परम सिद्धांत या परम अंतर्दृष्टि की ओर से देखा जाए तो सार का सम्पूर्ण होना, या संरचना का बनना, निरर्थक हो जाता है। सार के अपने महत्वपूर्णता में संरचना का समान महत्वपूर्ण होने के बावजूद सार की कल्पना और अभिव्यक्ति केवल सार के रूप में नहीं कर सकते हैं, यानी कि उसे सन्निहित तत्व या ईश्वर का अप्रभावित आत्म-अंतर्दृष्टि नहीं मान सकते है; बल्कि उन्हें उतना ही संरचना के रूप में, और विकसित संरचना की संपन्नता के रूप में संकल्पना करना चाहिए। केवल इसी तरह से वास्तविक रूप में सार की संकल्पना और अभिव्यक्ति हो सकती है।

20. सत्य संपूर्णता है। लेकिन, संपूर्णता वही सार है जो अपने विकसित होने से परिपूर्ण होता है। परम तत्व के बारे में यह कहना ज़रूरी है कि वह वास्तव में नतीजा है, और अंत में ही उसका वास्तविक रूप उभरता है। और यही उसकी प्रकृति है: प्रकृत[21] होना, कारक होना, या अपने-आप-में-सम्पूर्ण-बनना[22]। हालांकि

---

[18] स्वयं-में = in-itself

[19] स्वयं-के-लिए = for-itself

[20] सार = essence (here: truth, divine, the Absolute)

[21] प्रकृत = actual

यह विरोधात्मक लग सकता है कि परम तत्व को आवश्यक रूप से नतीजा माना जाए। मगर थोड़ा विचार करने से इस विरोधात्मकता का आभास मिट जाता है। उद्भव, सिद्धांत, या परम तत्व, जिसे शुरू में अनायास व्यक्त किया जाता है, वह सिर्फ [तात्विक] सार्वभौमिकता है। अगर मैं कहूँ 'सारे पशु' तो ये शब्द जीवविज्ञान के बराबर नहीं होते हैं; इसी तरह यह भी ज़ाहिर है कि दैविक, परम तत्व और शाश्वत आदि शब्द उनके अंतर्निहित अर्थ को व्यक्त नहीं करते हैं;—और केवल ऐसे शब्द ही अंतर्दृष्टि को सन्निहित के रूप से व्यक्त करते हैं। ऐसे शब्द के परे जो कुछ है, चाहे वह एक कथन की तरफ संक्रमण ही हो, उसमें एक अन्य-बनना और वापस-लौटना समाया हुआ है—यह मध्यस्थता [पुनः-सम्मेलन, चिंतन] है। पर यही मध्यस्थता [चिंतन] नाराज़गी पैदा करती है, जैसे कि परम प्रज्ञान को त्याग दिया जाता है जब कोई मध्यस्थता को इस [निम्नलिखित समझ] से ज्यादा महत्व देता है: कि यह [मध्यस्थता] परम सत्य नहीं है, और परम सिद्धांत में इसका कोई स्थान नहीं है।

21. वास्तव में मध्यस्थता और परम प्रज्ञान[23] की प्रकृति से अपरिचय की वजह से यह नाराज़गी पैदा होती है। क्योंकि मध्यस्थता और कुछ नहीं, बल्कि स्वचालित आत्म-गठन[24], आत्म-चिंतन, आत्म का वह पहलू जो *स्वयं-के-लिए* है, निरा नकारात्मकता[25] या, निरा अमूर्त रूप में सारतः *बनना* है। स्वयंता[26] (या व्यापक रूप से *बनना*) की सहजता की वजह से, यह मध्यस्थता *बनने* की प्रक्रिया में निश्चित रूप से अ-मध्यस्थता[27] ही है, और सन्निहितता[28] भी है।

---

[22] अपने-आप-में-सम्पूर्ण-बनना = becoming-its-own-self

23 परम प्रज्ञान = absolute cognition

24 आत्म-गठन = equality-to-itself

25 निरा नकारात्मकता = pure negativity

26 स्वयंता = The I. Hindi does not have a term to describe "The I" of Western Philosophy, so a term for autonomy is re-coined.

[27] अ-मध्यस्थता = immediacy

[28] सन्निहितता = the immediate

इस तरह से, प्रज्ञा को समझने में गलतफहमी होगी अगर प्रतिवर्तन[29] को सत्य से बाहर रखा जाए, और उसे परम तत्व का सकारात्मक पहलू न माना जाए। प्रतिवर्तन ही सत्य को नतीजा बनाता है, और इस [मध्यस्थता और अ-मध्यस्थता के बीच] विरोधात्मकता को *बनने* में परिणत[30] करता है; क्योंकि यह *बनना* उतना ही सहज है, और इस लिए सत्य की संरचना से अलग नहीं है, जो अपने आप को नतीजे में सहजता के रूप में पेश करता है; असल में यह [*बनना*] सहजता में वापस रूपांतरित होना है। हालांकि भ्रूण *स्वयं में* मनुष्य ज़रूर है, यह *स्वयं के लिए* मनुष्य नहीं है; परिपक्व तर्क-शक्ति के ज़रिए ही यह *स्वयं के लिए* मनुष्य बनता है, और यही उसको *स्वयं* [की सहजता] *में* वापस लाता है। यही इसकी वास्तविकता है। लेकिन यह नतीजा सहज सन्निहितता है, क्योंकि यह आत्म सचेतन स्वतंत्रता है, जो अपने आप में सुस्थिर है और विरोधात्मकता को अस्वीकार करके छोड़ देने के बजाय उसके साथ सामंजस्य बनाये रखता है।

22. अब तक कही हुई बात को हम ऐसे भी कह सकते हैं कि प्रज्ञा उद्देश्यपूर्ण सक्रियता[31] है। ऊददेश्यपूर्णता के [बाह्य] रूप के आम तौर पर बदनाम होने के कारण ये हैं - तथाकथित प्रकृति को (गलत ढंग से समझी गई) सोच के ऊपर प्रधानता देना, और खास कर के बाहरी उद्देश्यपूर्णता[32] का बहिष्करण करना। फिर भी, जिस तरह से अरस्तू भी प्रकृति को उद्देश्यपूर्ण सक्रियता मानते हैं, जहां उद्देश्य सन्निहित और स्थिर है, जो खुद अचल होते हुए प्रवर्तक/चालक है, इसी अर्थ में यह कर्ता है। इस प्रवर्तन करने की शक्ति को बोधात्मक रूप से देखा जाए तो यह *स्वयं-के-लिए-होना* है, या निरा नकारात्मकता है। नतीजा

---

[29] प्रतिवर्तन = reflection

30 परिणत = sublate

31 उद्देश्यपूर्ण सक्रियता = purposive activity.

32 बाहरी उद्देश्यपूर्णता = external purposiveness (the Newtonian idea that god is like a clockmaker who has made and regulates the world)

शुरुआत जैसा है, सिर्फ इस लिए कि शुरुआत उद्देश्य है; या, वास्तविकता और उसकी अवधारणा एक ही हैं; इसकी वजह सिर्फ यह है कि सन्निहितता (जो उद्देश्य ही है) में आत्मा या निरा वास्तविकता समाहित है। हासिल किया गया उद्देश्य या वास्तव जो सिद्ध हुआ है, वह क्रियाशीलता है, और *बनने* का प्रकटन है। लेकिन यह अस्थिरता ही आत्मा है। और आत्मा शुरुआत की उस सन्निहितता और सरलता के बराबर है, क्योंकि यह [आत्मा] नतीजा है, जो स्वयं में वापस लौटा है। लेकिन जो स्वयं में वापस लौटा है, वह आत्मा ही है, और आत्मा वह समानता और सरलता है, जो अपने को अपने साथ जोड़ता है।

23. परम तत्व को कर्ता के रूप में प्रस्तुत करने की इच्छा से इन प्रस्तावों का उपयोग किया गया: ईश्वर शाश्वत है[33], या नैतिक विश्व-व्यवस्था है, या प्रेम है, इत्यादि। ऐसे प्रस्तावों में परम तत्व को सीधे कर्ता के रूप में माना गया है; न कि एक गतिविधि जो अपने आप में प्रतिबिंबित होती है। ऐसा प्रस्ताव ईश्वर शब्द से शुरू होता है। अपने आप में यह एक निरर्थक ध्वनि है, केवल एक नाम; सिर्फ विशेषण ही बताता है कि ईश्वर क्या है, उनकी सिद्धि और अर्थ क्या है; खोखली शुरुआत अंत में जा कर ही वास्तविक ज्ञान बनता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह देखा जाए तो समझ में नहीं आता है कि वे शाश्वत, या नैतिक विश्व-व्यवस्था इत्यादि की बात साफ-साफ क्यों नहीं करते, या पूर्वजों की तरह, निरा अवधारणा, सत्ता, अद्वितीय, इत्यादि यानी कि निरर्थक ध्वनि ["ईश्वर"] के बजाय उसके अर्थ के बारे में बात क्यों नहीं करते। लेकिन यही शब्द ["ईश्वर"] इस बात की तरफ इशारा करता है कि जो माना जा रहा है, वह एक सत्ता, या सार, या आम तौर पर विश्वव्यापी नहीं है, लेकिन एक कर्ता है जो अपने आप में प्रतिबिंबित होता है। मगर साथ ही साथ यह प्रत्याशित ही है। कर्ता को एक स्थिर बिन्दु माना जाता है, जिसके सहारे

33 ईश्वर शाश्वत है = God is the eternal.

विशेषण एक [बाहरी सोच की] गतिविधि से जोड़े जाते हैं। यह गतिविधि उस व्यक्ति का है, जिसे इस कर्ता के बारे में ज्ञान है, न कि उस बिन्दु की अपनी [गतिविधि] है। लेकिन इस ['बिन्दु' के] गतिविधि के ज़रिए ही इस विषय को कर्ता के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जिस तरह से यह [उपरोक्त व्यक्ति की] गतिविधि गठित है, वह कर्ता का नहीं हो सकता है। फिर भी इस बिन्दु के पूर्वकल्पना के अनुसार, यह गतिविधि इसी तरह से गठित हो सकती है, यह केवल बाहरी ही हो सकती है। इस लिए, यह प्रत्याशा करना कि परम तत्व एक कर्ता है, न ही इस अवधारणा का वास्तविकता नहीं है, बल्कि इस वास्तविकता को असंभव बना देता है; क्योंकि यह प्रत्याशा अवधारणा को एक स्थिर बिन्दु मानता है, जब कि [अवधारणा का] स्व-चालन ही वास्तविकता है।

24. अब तक जो कहा गया है, उससे कई निष्कर्ष निकल सकते हैं, जिन में से इस बात को महत्व दिया जा सकता है: ज्ञान सिर्फ वास्तविक है, और यह केवल विज्ञान या पद्धतिबद्ध सोच के रूप से पेश किया जा सकता है; इसके अलावा, फलसफे का कोई प्राथमिक प्रस्ताव या सिद्धांत, अगर सच है तो, वह गलत भी है, जहां तक कि वह केवल एक प्राथमिक प्रस्ताव या सिद्धांत होता है। इस लिए उसका खंडन करना आसान होता है। उस [प्रस्ताव] की कमी की तरफ ध्यान दिलाना ही खंडन है; और वह त्रुटिपूर्ण है क्योंकि वह केवल सार्वभौमिकता या सिद्धांत है, केवल एक शुरुआत। अगर यह खंडन पक्का है, तो वह सिद्धांत से ही उत्पन्न होकर परिपक्व होता है - न कि उसके खिलाफ बाहर से लाए गए समर्थन और सुझाव से सिद्ध होता है। इस लिए खंडन दर असल सिद्धांत का विकास होता है, और इस तरह उसकी कमी का सुधार होता है। और यह तभी संभव होता है जब वह अपनी नकारात्मक पहलू को ही ध्यान में रख कर अपने आप को गलत नहीं समझता है, और अपनी प्रगति और सकारात्मक पहलू के बारे में अनजान नहीं रहता है। शुरुआत का यथार्थ

सकारात्मक वास्तविकीकरण[34], साथ ही साथ विपरीत रूप से, उसकी तरफ एक नकारात्मक रवैया है, यानी कि उसकी [शुरुआत की] एकतरफा रूप की तरफ, जिसमें वह केवल अंतर्निहित या आशय होता है। इस तरह से ऐसा माना जा सकता है कि वास्तविकीकरण व्यवस्था [सिस्टेम] के आधार का खंडन करता है; लेकिन यह कहना बेहतर होगा कि यह वास्तविकीकरण इस बात को ज़ाहिर करता है कि व्यवस्था का आधार या सिद्धांत असल में केवल उसकी शुरुआत है।

[34] यथार्थ सकारात्मक वास्तविकीकरण = genuine positive realization